ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 119-123
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-9, No.-II, Issues-10 YEAR- Dec -2018

सत्तर के दशक के बाद की कविता और उसके सरोकार

डॉ0 रीना सिंह
एसोसिएट प्रोफेसर– हिन्दी विभाग, जवाहरलाल नेहरू स्मारक पी.जी. कॉलेज बाराबंकी, (उ0प्र0), भारत

Received- 20.11.2018, Revised- 23.11.2018, Accepted - 26.12.2018 E-mail: drreenasinghhindi@gmail.com

सारांश : *'सत्तर के दशक की कविता केसरोकारों के अंतर्गत एक ओर वे अनुभव आते हैं, जिन्हें कवि जीवन के अनेक संदर्भो से हासिल करता है, तो दूसरी ओर इन अनुभवों से अनुस्यूत जीवन–दृष्टि भी इन सरोकारों में शामिल होती है। सत्तर के दशक के कविता के सरोकार पिछली कविता की प्रवृत्तियों एवं सरोकारों से बहुत कुछ भिन्न हैं। 'आज का कवि राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का केवल हश्र नहीं है, अपितु उनके प्रति जागरूक भी है और इसलिए वह अत्याचार, अनाचार, अन्याय, आर्थिक विषमता, जातीयता, साम्प्रदायिकता, अनुशासनहीनता, युवा आक्रोश तथा मूल्यहीन राजनीति को अपनी कविता का विषय बनाकर अपने साहस और दायित्व–बोध का परिचय दे रहा है।समकालीन कविता आज की बदली परिस्थितियों का सही रूप दिखाती है। वर्तमान परिस्थितियों की भीतरी–बाहरी टकराहट, आम–आदमी की विडंबना को उसके आत्म–संघर्ष कारूढ़िग्रस्त मनोवृत्ति, धार्मिक संकीर्णता, संस्कृति, समाज और राजनीति के बदलते हुए स्वरूप को वाणी देने का कार्य समकालीन कविता कर रही है। यहाँ समकालीन कविता के विभिन्न सरोकारों का विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक है। जब किसी समाज के गर्भ में नया समाज कुलबुलाने लगता है तो शक्ति इस जन्म में दाई का रोल अदा करती है।समकालीन कविता ने यही भूमिका अदा की है। सामाजिक परिवर्तन की सोच को अभीष्ट दिशा में मोड़ने का प्रयास समकालीन कविता ने सदैव किया है। समाज में व्याप्त बेरोजगारी, किसान–मजदूरों की बेहाली, नगरीय–महानगरीय जीवन की त्रासदी आदि समकालीन कविता के सरोकार हैं।*

कुंजीभूत शब्द–साम्प्रदायिकता, मानसिक, आध्यात्मिक, अंधकार, अलगाव, राष्ट्रीय, एकता, अखण्डता ।

समकालीन कविता में आम–आदमी सबसे अधिक प्रखर होकर आया है। डॉ. विजय शुक्ल का विचार है कि शहरीकरण व शरणार्थी संस्कारों की उपज से ही 'आम आदमी' की उपज होती है। डॉ. वीरेन्द्र सिंह के मतानुसार आम आदमी के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं, जो जीवन और परिस्थितियों की विषमता से जूझ रहे हैं। उनके अनुसार 'आम आदमी' में केवल मजदूर और श्रमिक ही नहीं, पर किसान, क्लर्क, शिक्षक, मध्यवर्गीय नारी तथा वे सभी व्यक्ति आते हैं, जो शोषण की प्रक्रिया में पिस रहे हैं। आजादी के 50 साल के बाद भी आज जन–सामान्य मूलभूत आवश्यकताओं से भी वंचित है। परिवार भूख की आग में जल रहे हैं–'बच्चे भूखे हैं/ माँ के चेहरे पर पत्थर/पिता जैसे काठ/अपनी ही आग में/जल रहा है ज्यों सारा घर।' और भूखा आदमी पेट भरने के लिए चोरी करता है, लूट–खसोट मचाता है। प्रजातंत्र में रोटियां गायब हो गयी हैं, लोग मारे जा रहे हैं– 'लोकतंत्र ने रोटी के साथ वही किया/जो एक बिल्ली चूहे के साथ करती है खेल–खेल में।' यही पेट की अग्नि आतंक में बदल रही है। संघर्ष दिनों–दिन बढ़ता जा रहा है– 'भूख बदल रही है आतंक में/खून जो हो चुका था पानी/खौलने लगा अब धमनियों में/बागी बनकर।' रोटी की तलाश में ये आम–आदमी न जाने कहां–कहां भटकते हैं, लेकिन बेकारी चारों तरफ अपना साम्राज्य फैलाये हुए है। जहाँ नौकरी मिलती है भी, तो मंत्री की सिफारिश से। गरीब, बेकारी केवल नेताओं के भाषणों में ही हटायी जा रही है। गरीबों, श्रमिकों, मजदूरों का ही खून चूसकर शोषक अपने बागों की सिंचाई कर रहे हैं––'तुम्हारे रक्त को सींचकर गुलाबों की/बागवानी करते वे कुछ लोग।' लेकिन अब इन सामान्य–जनों में भी चेतना पनप रही है–'इसके खिलाफ/उठानी है आवाज/और खून की अंतिम बूंद तक/लड़ना है यह युद्ध/यह युद्ध मेरा अपना है।'

वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था की शिकार स्त्री भी है, जो मजबूर होकर वेश्यावृत्ति कर रही है। उच्च–वर्ग इनकी मजबूरियों का लाभ उठाने से नहीं चूकता–'तुम्हारी उठती छाती पर उनकी नजर है लड़की/रस–गंध से भरे पृथ्वी के तमाम फलों पर/जिनके दांत गड़े हैं।' मध्यवर्गीय नारी की त्रासदी को समकालीन कवि धूमिल, बलदेववंशी, चंद्रकांत देवताले, गोरख पाण्डे, मंगलेश डबराल, ऋतुराज, मणि मधुकर जैसे अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है।

धर्म, परंपरा के नाम पर हो रहे स्त्री–शोषण की इस सामाजिक व्यवस्था का ध्वंस होना चाहिए–'मैं/दीवार की संधों में फँसी/बट वृक्ष का अंकुर हूँ/ मेरे चारों ओर/जकड़ती हुई ऊंची ठोस दीवारें हैं/औपचारिकता, रुढ़ियों का/तंग होता कसाव है/पर/मैं ये दीवारें फोड़ दूंगी।' स्त्री को अपनी अस्मिता बरकरार रखने के लिए अपनी लड़ाई खुद ही लड़नी होगी, तभी जाकर वह समाज में अपना स्थान पा सकेगी। रमणिका गुप्ता ने 'नए सीतायन' की आवश्यकता है, यह कहकर पुराने चक्रव्यूह को तोड़ने की बात पर ही बल दिया है–'लखन का संकल्प तोड़कर/राम की मर्यादा छोड़कर/जानकी को वन से मोड़कर/अग्नि की सब रीतें तोड़कर/ रामायण को पुनः रचना/मुझे भी आज चलना/सीतायन का नवयुग जैसे 'मैं/दीवार की संधों में लखन का संकल्प तोड़कर/राम की मर्यादा छोड़कर/जानकी को वन से मोड़। अग्नि की सब रीतें तोड़/रामायण को पुनरूरचना/मुझे भी है आज चलना/सीतायन का नव युग सृजना।

लीलाधर जगूड़ी, रघुवीर सहाय, राजीव सक्सेना, कुमार विकल, उदय प्रकाश आदि समकालीन कवियों ने समाज से जुड़े इन्हीं निम्न वर्गों की जिन्दगी के सरोकारों को अपनी कविताओं में रूपायित किया है। डॉ. विनय के शब्दों में 'समकालीन कविता ने सूरज को सामने से हटाकर दीये की तरफ नजर की, इस तरह जिन्दगी का उपेक्षित सामान्य मानव–साधारण भाषा में अपनी अभिव्यक्ति पा सका।'[7] समकालीन कविता के कवियों ने मध्यवर्ग के जीवन की यातनाएं झेली हैं, उनकी भूख–प्यास के साथ साक्षात्कार किया है कमलेश लिखते हैं कि 'मैं जो जानता हूं भूख रोटियों की, नमक और मधु की, मैं जो/जानता हूं पीड़ा आदमियों के बीच निर्वस्त्र/घूमने की, मैं जानता हूँ करोड़ों की भूख/और प्यास में जो करोड़ों जीवों के साथ काला पड़/डूबता–उतरता हूँ/इस सागर में/टटोलता हूँ अंधकार की परतों को/महसूस करते हुए सारे तारे।'निराला की 'भिक्षुक' और 'वह तोड़ती पत्थर' जैसी कविताओं में आम आदमी के चित्रण की जो परम्परा विकसित हुई, वह समकालीन कविता तक आयी है। फीस न देने पर स्कूल से निकाला गया गरीब बेटा–'एक दिन वहाँ से निकाल दिया कि/पिछले तीन महीनों से/फीस नहीं दे पाया था और/उसके कपड़े गंदे थे और अभाव की स्थिति में निर्वासित लोग–'भूख और प्यास और हाहाकार में/कितनी ही गौरैया आज शहर बदलेगी/ कितने ही लड़के नहीं जायेंगे क्लास।'[8] समकालीन कविता में ऐसे उद्धरण जगह–जगह मिलते हैं। अवसरवादी तत्व केवल चुनाव के अवसर पर आम आदमी की खबर लेते हैं, पर समकालीन कवि जन–साधारण को भूलता ही नहीं है–'जब समाजवादी दल खोज रहा था लड़के/मन्त्री बनने के लिए अगली सरकार में/मैं खोज रहा था/भीड़ में रामलाल/वही मिल जाय अगर मैकू न मिले।'[9]

समकालीन कवि सामाजिक वि.त्तियों से मुँह नहीं मोड़ता है। समकालीन कविता में युगीन–चेतना का अस्तित्व है। डॉ० राम दरश मिश्र लिखते हैं कि किसी भी सर्जन के लिए युगीन चेतना का अस्तित्व आवश्यक है। युग चेतना को छोड़कर समाज को प्रस्तुत करने से दो खतरे सामने आते है– एक तो यह कि वह समाज अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाता, दूसरे यह कि सर्जक का यह कार्य निर्माण कार्य न होकर समाजका स्थूल प्रस्तुतीकरण हो जाता है।समकालीन कवियों में इस युगीन चेतना की समझ भरपूर है। उन्होंने जिस परिवेश को जीया है, उसे ही कविता का रूप दिया है; क्योकि उनका लक्ष्य मात्र भावनाओं का वर्णन नहीं, वास्तविक भावनाओं का वर्णन है। समकालीन कवियों का यथार्थ एकांगी न होकर उसमें समाज, व्यक्ति के दुःख–दर्द सेलेकर राजनीतिक, सामाजिक उथल–पुथल भी है। न्याय, शिक्षा, समाज, भूख, बेकारी, स्त्री, बच्चे, परिवार आदि अनेक सरोकार समकालीन कविता में देखे जा सकते हैं।

समकालीन कवियों के सम्बन्ध में अशोक वाजपेयी का यह अभिमत उचित प्रतीत होता है कि 'अगर कवि अपने को विचारों से, खासकर राजनीतिक विचारों से, जो आज की दुनिया में इतने प्रभावशाली हैं, अपने को काट लिया या अलग रखा तो फिर नये कवि का यह दावा कि वह समकालीन सच्चाई का साक्षात्कार करने की कोशिश कर रहा है, व्यर्थ हो जाएगा। राजनीति को दर किनार रखकर समकालीन सच्चाई का साक्षात्कार सार्थक और प्रासंगिक नहीं हो सकता;क्योंकि राजनीतिक चेतना जहाँ साहित्यकार को यथार्थ से पहचान कराती है, वहाँ उसे समसामयिकता के संदर्भो से जोड़ती भी है। इस चेतना को आत्मसात् किये बिना लेखक का समसामयिक संदर्भो से जुड़ना आसान नहीं होता। आज के समसामयिक जीवन और समाज के संदर्भो की सही पहचान करने के लिए किसी भी लेखक को राजनीतिक चेतना की पकड़ आवश्यक हो जाती है। आज के साहित्य को राजनीति से दूर रखने या राजनीति को साहित्य में अस्पृश्य मानने की बात नहीं रही है। समकालीन कवियों ने अपनी राजनीतिक जागरूकता का परिचय देने के लिए कभी प्रजातंत्र की उपलब्धियों और सीमाओं का मूल्यांकन करके, तो कभी उसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगाकर भ्रष्टाचार की चर्चा की है। रघुवीर सहाय की कविताएं राजनीति का सीधा साक्षात्कार प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने व्यक्ति, समाज, संस्था, राजनीति और जनतंत्र की पोल खोली है। आज की भ्रष्ट राजनीति पर सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने भी तीखा प्रहार किया है। उन्होंने लोकतंत्र को लाठी में जूते की तरह लटकाये हुए भागते लोगों का असहाय तंत्र कहा है–'वह बन्द कमरा/सलामी मंच है/जहाँ मैं खड़ा हूँ/पचास

करोड़ आदमी खाली पेट बजाते/ठठरियाँ खड़खड़ाते/हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं/झांकियां निकलती हैं/ढोंग की विश्वासघात की बदबू आती है हर बार/एक मरी हुई बात अंधेरे तक', हेतु भारद्वाज की 'संवाद : एक तरफा', धूमिल की 'पटकथा' आदि कविताओं में प्रजातंत्र को भयावह और सर्वग्राही रूप में प्रस्तुत किया गया है। कुमार विकल ने प्रजातंत्र को 'बनतंत्र' कहा है–'राजपथ की बनतंत्री व्यवस्था में/मैं अकेला और अरक्षित हूँ। कुमार विकल के इस कथन से स्पष्ट होता है कि जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत चरितार्थ करने वाले प्रजातंत्र में केवल ताकतवर ही रह सकता है। स्वतंत्रता के बाद जनतंत्र की हालत दिनों दिन बिगड़ती जा रही है। सत्ता गलत हाथों में जाकर गलत नतीजों तक पहुँच गयी है, इसी का परिणाम है कि सत्ता के उन्माद में स्वार्थी नेताओं का जनता के दुःख–दर्द से कोई सरोकार नहीं रहता है। आजादी के बाद भारतीय जनतंत्र से बुद्धि जीवियों ने जो आशाएं लगा रखी थीं, वे सभी तार–तार हो गईं। देश के नेता केवल कुर्सियों की होड़ में लगे रहे। चुनावों के समय जनता से बड़े–बड़े वायदे करते रहे और भोली जनता उनसे सम्मोहित होकर अपना भविष्य उनके हाथों में सौंप देती रही है। कुमार विकल ने इसी सन्दर्भ में कहा है कि राजनीतिक बोध न होने से जनता हर पांचवें साल वोट की पर्ची देकर बहका ली जाती है–'मैं भी कितना भोला हूँ कि हर पांचवें साल/एक परची देकर बहला लिया जाता हूँ और कुर्सी पाते ही सत्ता के उन्माद में ये हाथी जनता को अपने पैरों तले रौंदते चले जाते हैं। जनता के सुख–दुख से उन्हें कोई लेना–देना नहीं–/बाढ़ आये/या सूखा पड़े/कुछ लोग हैं जो/दोनों ही स्थितियों में फायदा उठाते हैं/बाकी लोग नुकसान/सरकार किसी पार्टी की बने/चमचे वही हैं।'[11] उन सत्तालोलुपों का उद्देश्य मात्र अपना उल्लू सीधा करना होता है। देश के रहबरों की इन्हीं कारगुजारियों के कारण राजनीतिक पटल पर कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हो पाता। ज्यादा–से–ज्यादा राजनीतिक दल–बदल का तमाशा देखने को मिल जाता है।

आजादी के पचास साल बाद भी जिस समाजवाद की कल्पना की गई थी; आज भी वह एक नारा बनकर रह गया है। समाजवाद की आड़ में पूंजीपति और नेता, राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थों की पूर्ति कर रहे हैं। समाजवाद शब्द निरर्थक है। धूमिल लिखते हैं–'समाजवाद उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का/एक आधुनिक मुहावरा है/मेरे देश का समाजवाद/माल गोदाम में लटकी हुई/उन बाल्टियों की तरह है, जिन पर/आग लिखा है/और उनमें बालू और पानी भरा है।'समाजवाद की खोल में भ्रष्ट और स्वार्थी नेताओं द्वारा जो आर्थिक नीतियां बनायी गई हैं, वे आम जनता की ही कब्र खोद रही हैं–'तुम्हारे जिगरी दोस्त की कमर/वक्त से पहले झुक गई है/उसके लिए/बढ़ई के आरे और बसूले से लड़ना फिजूल है/क्योंकि गलत होने की जड़ न घड़ी साज की दूकान में है/न बढ़ई के बसूले में/और न आरी में है/बल्कि यह इस समझदारी में है/कि वित्तमंत्री की ऐनक का/कौन–सा शीशा कितना मोटा है। और विपक्ष के बेंच पर बैठे हुए/नेता भाइयों के नाम/सस्ते गल्ले की कितनी दूकानों का/कोटा है।'[12] लेकिन जब व्यवस्था की कारगुजारियाँ असह्य हो उठती हैं और जीना मुश्किल हो जाता है, तब व्यवस्था–विरोध के स्वर भी सुनाई देते हैं। किन्तु ये स्वर भिन्न–भिन्न होने के कारण व्यवस्था का बाल भी बाँका नहीं कर पाते और तब कवि को अपनी उपेक्षा कुंठित कर देती है और विद्रोह का स्वर दब जाता है राजकुमार कुम्भज लिखते हैं कि 'कोई बवंडर उठता है व्यवस्था के खिलाफ/तब/ हर बार/रेशमी मसहरी लगाकर/सो जाते हैं, व्यवस्था के तन्तु।'लेकिन इन विसंगतियों में भी निश्चित ज्वालामुखी का एक लावा कुर्सियों के आस–पास फूटेगा और एक बड़ा परिवर्तन संभव हो सकेगा–'सिर्फ एक लावा जो कुर्सियों के आस–पास फूटेगा/नक्शा बदलने के लिए काफी है।'[13] क्योंकि इस व्यवस्था की विसंगतियों को देखते हुए ही समकालीन कवि इस नतीजे पर पहुँचता है कि ऐसी व्यवस्था में परिवर्तन अत्यावश्यक है। इस परिवर्तन के लिए धीरे–धीरे क्रान्ति के स्वर उभरने लगते हैं और वह इस व्यवस्था को जलाकर खाक कर देना चाहते है। राजीव सक्सेना लिखते हैं कि 'जी चाहता है एक ठोकर से उड़ा दूं यह पत्थर/थूक दूँ/उफन जाए बंधे सिन्धु सारे/मुट्ठी में पीसकर ब्रह्माण्ड गढ़ दूँ एक घर .... एक धरा।'समकालीन कवियों में जो संघर्ष–चेतना दिखाई देती है, उसके दो कारण माने जा सकते हैं, एक तो मार्क्सवादी दर्शन और दूसरा नक्सलबाड़ी आंदोलन। मामूली आदमी तक को अपने पर हो रहे अत्याचार का एहसास होने लगा है–'मामूली आदमी अपनी .तियों को महसूस करने/लगा है अपनी टांग पर टिके महानगरों और/अपनी कमर पर टिकी हुई राजधानियों को महसूस करने लगा है वह/धीरे–धीरे उसका चेहरा नए गड़ासे मेंबदल रहा है।'[14] जंगलों से भी लगातार क्रांति की आवाजें आ रही हैं–मूख कोदेखों/जो एक मुस्तैद पंजे में बदल रही है/जंगल से लगातार एक दहाड़ आ रही है/और इच्छाएं दांत पैने कर रही हैं/पत्थरों पर।'[15] इसलिए आज यदि व्यवस्था की कारगुजारियों को खत्म करना है, तो आग बनना होगा अन्यथा वसंत नहीं आयेगा–'आओ हम आग बनते हैं/वर्ना वसंत नहीं आयेगा।'लेकिन व्यवस्था फिर भी अपनी ओर से यह दिखाने का प्रयास करती है कि विरोध या विद्रोह कहीं भी नहीं है, लेकिन इस अमन चैन के

नैपथ्य में विद्रोही सक्रिय हैं। उनके हाथों में अपने खून से भरी हुई बाल्टियाँ हैं और संगीन धारी पहरेदारों की आंखें बचाकर वे विद्रोह का नया अध्याय लिख रहे हैं।'[16] सत्तर के दशक के बाद की कविता में महानगरीय बोध को भी देखा जा सकता है। शहरी समस्याओं में उलझे मानव का पारिवारिक तनाव बढ़ा है। वह सदा स्वयं में व्यस्त रहने लगा है, समाज में रहकर भी समाज से कट गया है। उसे सामाजिक तौर–तरीके औपचारिक लगने लगे हैं। मानव का जीवन मानों यंत्र हो गया है। सुबह से शाम तक एक पुर्जे के समान गतिशील रहता है। महानगरों में यह बोध अधिक शिद्दत के साथ उभरता है। मानवीय संवेदना, रिश्तों में दरार आती जा रही है। आज इस विकास की होड़ में मनुष्य–मनुष्य से अलग होता जा रहा है, जिसका एहसास समकालीन कवियों ने किया, महानगरों की जटिल स्थिति एवं व्यक्ति के विकृत होते हुए रूपों का बयान करने के लिए उलटबासियों का सहारा लिया; क्योंकि उलटे लोगों औरउलझी हुई हालत को सिर्फ उलटबासियों में कहा जा सकता है। इस महानगरीय दर्द को आज हर व्यक्ति अपने–अपने स्तर पर झेल रहा है न चाहते हुए भी प्रकृति से दूर,सहजता से निरंतर दूर होता जा रहा है।

शहरों में मानवीय जीवन असुरक्षित होने लगा है। भोपाल की गैस–त्रासदी को ही लीजिए, कितना भयानक अनुभव था वह, जिसमें न जाने कितने मारे गए,कितने शहर अपाहिज बन गए। सारा परिवेश विषैला हो गया। राजेश जोशी लिखते है कि 'हवा को डस लिया है किसी करात ने/या कौडिया सांप ने।'शहरों ने प्रकृति–सुन्दरता को ही नष्ट कर दिया है। मानो धृतराष्ट्र हो गया है, जिसे कुछ नहीं दिखाई देता –'धृतराष्ट्र है कुछ नहीं दिखता इसे / सूर्य, बादल, नदी, पेड़, चिड़िया, पत्तियाँ और इन्सान/कुछ भी नहीं।'शायद इसलिये डॉ. शंभुनाथ सिंह ने कहा है कि–दिल्ली को भारतीय होना चाहिए यह मेरी अभिलाषा है और यह भी चाहता हूँ कि हमारे गाँव दिल्ली–बम्बई न बनने पाएं।

समकालीन कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति को अपनी अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। काव्य की कोई भी प्रतिभा प्रकृति के सौंदर्य से संवेदित हुए बिना सार्थकता नहीं पा सकती है। प्रकृति दो रूपों में हिन्दी काव्य में चित्रित हुई है। एक स्वतंत्र कृश्र्य रूप में, दूसरे मानवीय भावनाओं के आरोपण के रूप में। समकालीन अधिकांश कवियों ने प्रकृति–चित्रों के साथ नारी के रूप–रंग को, उसके सलोने जिस्म को घुला–मिला दिया है। केदारनाथ अग्रवाल को प्रकृति–सौंदर्य मेंनारी–सौंदर्य भी मिल जाता है। नारी के स्पर्श, आलिंगन और चुम्बन का सुख भी। प्रकृति कवि के सामने प्रेयसी के रूप में आती है, तात्पर्य यह है कि केदारनाथ अग्रवाल के प्रकृति–सौंदर्य में नारी–सौंदर्य भी घुल–मिलकर एक हो गया है–'मुग्ध कमल की तरह/पाँखुरी–पलकें खोले/कन्धों पर अलियों की व्याकुल/अलकें तोले/तरलताल से/दिवस शरद के पास बुलाते/मेरे मन में रस पीने की प्यास जगाते।'

कवियों ने प्रकृति को अपनी विभिन्न भावनाओं के प्रकटीकरण करने के लिए माध्यम बनाया है; क्योंकि प्रकृति का हर उपादान मानव–मन से जुड़ा है। 'तुम्हारे रक्त को सींचकर गुलाबों की/बागवानी करते वे कुछ लोग।'यहाँ उदय प्रकाश ने प्रकृति केमाध्यम से यह बताया है कि श्रमिकों के खून से ही सत्तालोलुप पूंजीपति ऐशो–आराम की जिन्दगी गुजार रहे हैं।

दूसरी ओर धूमिल हैं, जिन्हें बसन्त बकाया की याद दिलाता है–'मेरे लिए बसन्त/ बकाया का भुगतान है।'गोरख पांडे को फूल जीने के लिये प्रेरित करते हैं, उनके लिए प्रकृति प्रेरक है–'खूबसूरत हैं इतने / कि बरबस जीने की इच्छा जगा दें कि दुनिया को/और जीने/लायक बनाने की/इच्छा दें।'राजेश जोशी बादलों को ही कभी ऊंट, कभी हाथी, कभी तितली के रूप में देखतेहैं। प्राकृतिक उपमानों की इतनी बहुलता उनके प्रकृति–प्रेम का ही परिचायक है–'बादल है, ऊंट है, हाथी है, तितली है, मन के अंदर का पानी है।'प्रकृति भावनाओं के उद्दीपन के रूप में भी आयी है। पीली सरसों कवि को अपनी प्रिया की याद दिलाती हैपीली–पीली सरसों/ ऐसा लगताबिना तुम्हारे/हुए खेत में बरसों। 'बलदेव वंशी को काश्मीर की 'बुल्लरलेक' आकर्षित करती है; क्योंकि यह झील एशिया की अर्थपूर्ण रुदन–सी लगती है–'घिरा हुआ/ चारों ओर घूमती काली सड़क की बांह/गले में डाल अभी–अभी सोया है/या कि एशिया का नयन/डबडबा कर/मौन/अर्थपूर्ण रोया है। 'लीलाधर जगूड़ी प्रकृति के उपादानों के माध्यम से यह बता रहे हैं कि लोगों में क्रांति–चेतना विकसित ही नहीं हो रही है–'यह कैसी हवा चल रही है/जिसमें न पेड़ हिल रहे है न जंगल।' इस तरह समकालीन कविता में प्रकृति का चित्रांकन विविध रूपों में हुआ है। कहीं यह जन–जीवन से जुड़ी है, तो कहीं परिवेश से, तो कहीं मानवीय भावनाओं एवं विचारों को अभिव्यक्ति के रूप में जुड़ी है। प्र.ति प्रेम और सौन्दर्य का प्रतीक बनकर इन कविताओं में व्यक्त हुई है। प्रकृति सुन्दरता तथा विद्रूपता दोनों को उजागर करती है। गुरिल्ला–चेतना एक लेखक की सनक या रोमांचकता नहीं है, इसके पीछे वर्ग–समाज के प्रारंभ से ही, व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाकुओं का संघर्ष है। यह संघर्ष कोई एक प्रकार का नहीं है, कहीं जातिवाद का विरोध है, कहीं आर्थिक शोषण का, कहीं शासक–वर्ग की विलासिता का, कहीं पीड़ितों की निराशाओं और आक्रोश का। विद्रोह की इस पूरी परम्परा का यह धरातल है, जिस पर खड़ा होकर आज का क्रांतिकारी चेतना

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-9, No.-II, Issues-10 YEAR- Dec -2018

से सम्पन्न कवि लड़ रहा है।'गुरिल्ला–चेतना से सम्पन्न कवि यद्यपि मनुष्यों से प्रेम करता तो है, लेकिन समाज के उन शोषित वर्गों के लिए अपने शब्दों का सहारा लेकर लड़ता है; क्योंकि शोषक वर्गों और उनका साथ देने वालों को गुरिल्ला कवि अपना शत्रु मानता है। पूर्ववर्ती अधिकांश कवियों में उग्र विरोध नहीं था, जबकि समकालीन कवियों (नागार्जुन, रघुवीर सहाय, लीलाधर जगूड़ी, धूमिल, चंद्रकांत देवताले, मंगलेश डबराल, उदय प्रकाश) आदि में व्यवस्था का विरोध करने की पूरी शक्ति और साहस है। 'पता' शीर्षक कविता में ज्ञानेन्द्रपति ने भी गुरिल्ला आक्रमण का वर्णन किया है। डॉ० विश्वंभर नाथ उपाध्याय लिखते हैं कि 'आज कविता अपनी–अपनी चांदनी छोड़कर प्रलंय कर सूर्य की तरह बन गई है, जिसमें प्रतिक्षण प्रचंड ज्वाला के लावे उठते हैं और जो अपने पवित्र आलोक से असंख्य लोगों को नक्षत्रों की तरह चमकाती है। आदमी को सर्वव्यापी मूल्य और ममता से युक्त कर रही है, तो यह यही 'गुरिल्ला–कविता' है।'

समकालीन कविता में जो विद्रोह एवं आक्रोश का स्वर दिखाई पड़ता है, वह कहीं राजनीति से जुड़ा है, तो कहीं मंहगाई, बेरोजगारी, अकाल जैसी सामाजिक समस्याओं तथा परिवेश से जुड़ा है। समकालीन कवि परिवर्तन चाहता है, उसका स्पष्ट स्वरूप उसकी कविताओं में देखा जा सकता है। यह विद्रोहात्मक स्वर सामाजिक–आर्थिक विसंगतियों के परिणाम स्वरूप उपजा है। इन विषम परिस्थितियों में भी समकालीन कवि गुलामी की मजबूत जंजीरों को काट देने का खुला आह्वान करता है नारी भी अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर चुकी है और पुरुष–सत्ता, परंपराओं, रूढ़ियों का कट्टर विरोध करती है रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि 'मैं अब सीता नहीं बनूंगी/..... प्रचलित मान्यताओं के खिलाफ/विद्रोह का झंडा बुलंद करूंगी/पर क्षमा नहीं मागूंगी/एक तरफ समाज की सरकार से। 'चंद्रकांत देवताले व्यवस्था में परिवर्तन के लिए सामूहिक विरोध का आह्वान करते हैं–'उठो और अपनी हड्डियों को बजाना शुरू कर दो/भूखण्ड तप कर भट्टी बन रहा है/ तनकर सीधे खड़े हो जाओ/कहो 'नहीं'/बहुत हो चुका 'अब और नहीं' एकदम नहीं/इस नहीं की आंधी में उड़ने लगेंगे/तमाम कागजों के पुलिंदे, वर्दियां/शुभाषित वाक्य और कुर्सियाँ।'

सारांशः–हम यह कह सकते है कि सत्तर के दशक के बाद की कविता अपने 'समकाल' मे व्यक्त यथार्थ जीवन की ओर अधिक इशारा करती है। कवियों ने वर्तमान व्यवस्था की असंगतियों का चित्रण यर्थाथ के धरातल पर किया है। सामाजिक एवं आर्थिक विषमताओं के निराकरण में असफल लोकतंत्र पर तीखा आक्रोश व्यक्त किया है। यह कविता अपने परिवेश के प्रति सजग है। शिल्प की दृष्टि से अनावश्यक कलात्मक पच्चीकारी नहीं की गयी है। वह अन्तर्वस्तु की ऊष्मा और ऊर्जा को बनाये रखने में अधिक विश्वास करती है– वह 'आभिजात्य' या 'कुलीन' प्रकृति की न होकर सामान्य जन प्रकृति की है। रचना में शिल्प की अनावश्यक कशीदाकारी के स्थान पर उसकी सहज ऊर्जा और अर्थ के नुकीलेपन पर अधिक जोर देते हैं। यह कविता रचनाकार की चेतना को शब्दों की घटाटोप में कमजोर तथा अशक्त बनाने के कत्तई हिमायती नहीं है इसलिए इसमें मनुष्य और मनुष्यता को खंडित करनेवाली सभी शक्तियों का विरोध करते हैं और मनुष्य की अस्मिता और उसकी गरिमा को बरकरार करने वाले सभी प्रयासों के वे पक्षधर हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कल सुनना मुझे (पृष्ठ 68): धूमिल।
2. पुल पर पानी (पृष्ठ 25): ऋतुराज।
3. समकालीन सृजन (जनवरी–मार्च 1988)।
4. सुनो कारीगर (पृष्ठ 31): उदयप्रकाष ।
5. बयान–बाहर (पृश्ठ 27): डॉ० सुखबीर सिंह।
6. शब्द लिखने के लिए ही यह काग़ज बना है (पृष्ठ 31): ज्ञानेन्द्र पति।
7. ऑक्टोपस के पेट में बचा एक बीज (पृष्ठ 58): मालती शमी।
8. नाटक जारी है: नगर का मौसम (पृष्ठ 73): लीलाधर जगूड़ी।
9. आत्महत्या के विरूद्ध: भीड़ में मैकू और मैं (पृष्ठ 45): रघुबीर सहाय।
10. गर्म हवाएं (पृष्ठ 15): सर्वेश्वर दयाल सक्सेना।
11. जूझते हुए आह्वान (पृष्ठ 46): सुरेन्द्र तिवारी।
12. संसद से सड़क तक (पृष्ठ 90): धूमिल।
13. नाटक जारी है: इस व्यवस्था में (पृष्ठ 44): लीलाधर जगूड़ी।
14. पहल–8 : आलोक धन्वा : जुलाई 1976।
15. लिखेंगे इतिहास (पृष्ठ 59): नचिकेता।
16. विचार कविता की भूमिका (पृष्ठ 131): बेणुगोपाल।

*****